

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत-२५३९ अंक-१८८, वर्ष-१७, मई-२०१३

श्रावण सुद १०, रविवार, दि.१३-०८-१९७८, बहिनश्री के वचनमृत-१७३ पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन - ६३

आँख में किरकिरी नहीं समाती, उसी प्रकार विभाव का अंश हो तब तक स्वभाव की पूर्णता नहीं होती। अल्प संज्वलनकषाय भी है तब तक वीतरागता और केवलज्ञान नहीं होता। १७३

‘वचनमृत’ १७३, १७२ पूरा हो गया न? ‘आँख में किरकिरी नहीं समाती..’ हमारे यहाँ कणा कहते हैं, तुम्हारे में किरकिरी कहा। आँख में एक किरकिरी भी नहीं समा सकती। खटक... खटक (करता है)। राई जितनी किरकिरी हो फिर भी आँख में खटकती, खटकती है। ‘उसी प्रकार विभाव का अंश हो तब तक स्वभाव की पूर्णता नहीं होती।’ एक तो बात यह है कि जब तक आत्मा में विभाव के अंश की रुचि है तब तक आत्मा को अंतर सन्मुख सम्यग्दर्शन नहीं होता। समझ में आया? भगवान चिदानंद स्वरूप प्रभु का अनुभव, आदर, आश्रय, विभाव के अंश का भी प्रेम है तो अंतर में अनुभव नहीं हो सकता। उसे सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। समझ में आता है? भैया! क्यों ऐसा हुआ? लोग ऐसा कहते हैं कि निश्चय के साथ व्यवहार हो और व्यवहार की क्रिया हो तो बराबर वह कथन बराबर है। वह कथन बराबर है और वह बात बराबर है। उसे तो व्यवहार की हौश-उत्साह है। समझ में आया?

१४३ गाथा में कहा है न? १४३ (गाथा)। ‘समयसार’। केवली भगवान दो नय के साक्षी हैं। उन्हें नय नहीं है। उसका अर्थ साक्षी है। समझ में आया? अभी तो वह भी तकरार बहुत है न? १२वीं गाथा। ‘सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं।’ अर्थात् जिसे शुद्धनय पूर्ण जानने में आयी ऐसे केवली को उसका पक्ष नहीं है। उसका यह अर्थ करते हैं, अभी अर्थ आया है कि शुद्धनय तो जब तक सातवां, आठवां, दसवां गणस्थान होता है तब शुद्धनय होता है। केवली को शुद्धनय कहा है तो वहाँ नय नहीं है। क्या कहा? वहाँ आया न? ‘व्यवहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे द्विदा भावे’ इसका अर्थ उन लोगों ने ऐसा किया कि जब तक शुद्धनय नहीं है तब तक मात्र व्यवहार है। चौथे, पांचवे, छठे (गुणस्थानमें) व्यवहार है, वहाँ शुद्धनय नहीं है। और केवली को शुद्धनय नहीं है। शुद्धनय जाना हुआ प्रयोजनवान है तो वहाँ तो नय नहीं है। अंतर में सप्तम गुणस्थान आदि में जब शुद्धनय है उसे जाना हुआ प्रयोजनवान है, ऐसा अर्थ करते



हैं। बड़ी विचित्रता हुई है। आहा..! ऐसा नहीं है।

जब आत्मा को राग के कण की रुचि छुटकर, चाहे तो शुभराग हो, व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प हो, उसका भी अवलंबन और रुचि छुटकर अंतर में अनुभव में जाते हैं तब कोई नयपक्ष और राग रहता नहीं। समझ में आया? अंतर में जब अपना ज्ञायकस्वरूप आत्मा, ज्ञायक-ज्ञान और ज्ञाता ऐसे तीन को भी छोड़कर अपने स्वरूप के अनुभव में जाता है तब उसे व्यवहार रहा नहीं तो व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है, ये उसे रहा नहीं।

वे लोग ऐसा कहते हैं कि व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान तो छठवें गुणस्थान तक है, पीछे तो शुद्धनय है। ऐसा नहीं है। आहा..हा...! राग के कण के अंश का भी प्रेम है... वहाँ ऐसा कहा है न? कि श्रुतज्ञान के क्षयोपशम से विकल्प उत्पन्न होता है। १४३ गाथा, 'समयसार'। श्रुतज्ञान का क्षयोपशम है उस कारण से ज्ञानी को विकल्प उठता है, परंतु उस विकल्प को पकड़ने का उत्साह निवृत्त हुआ है आहा..हा...! बात में बहुत फेर है। समझ में आया? पहले यथार्थ क्या चीज है उसका ज्ञान तो करे आहा..हा...!

मुमुक्षु :- ...

पूज्य गुरुदेवश्री :- लेकिन वह उत्साह से निवृत्त हुआ है। है सही, लेकिन उसमें उत्साह नहीं, प्रेम नहीं है। आहा..हा..! ये लोग ऐसा कहते हैं कि निश्चय है वहाँ व्यवहार आता है और व्यवहार से लाभ होता है, ऐसा कहो तो अनेकांत है। यहाँ तो कहते हैं कि व्यवहार विकल्प आया, अंतर स्वरूप की दृष्टि हुई, राग की, विकल्प की रुचि छुटकर निर्विकल्प स्वभाव की अनुभव दृष्टि हुई, तब तो उसमें विकल्प है नहीं। लेकिन अनुभव होने के बाद अंदर में रह सकते नहीं और बाहर आये तो विकल्प तो उत्पन्न होता है—श्रवण का, मनन का, कथन का, भक्ति का इत्यादि लेकिन

उस विकल्प प्रति उत्साह निवृत्त हुआ है। वह ठीक है, मुझे लाभदायक है ऐसे उत्साह से निवृत्त है। आहा..हा..! यह बात कैसे (बैठे)? समझ में आया? आता है, सम्यग्दृष्टि को भी जब तक पूर्ण वीतराग न हो तब तक राग आता है, दया का, दान का, भक्ति का, पूजा का (राग आता है), परंतु अंतर दृष्टि के विषय में राग को पकड़ना उस उत्साह से निवृत्त हो गये हैं। एक बात। और अनुभव-कालमें तो कोई विकल्प है ही नहीं। समझ में आया? आहा..हा..! बहुत सूक्ष्म बात, भाई! वीतराग मार्ग जिनेश्वर परमेश्वर का पंथ अलौकिक चीज है।

यहाँ कहते हैं कि (आँख में) किरकिरी नहीं समाती। भगवान आत्मा आनंद चिदानंद स्वरूप, उसके अनुभव में सम्यग्दर्शन होने में राग का कण भी वहाँ सहायक नहीं होता। वहाँ राग का कण भी खटकता है। आहा..हा..! समझ में आया? आहा..हा..! यहाँ तो दूसरी बात कहते हैं। 'आँखमें किरकिरी नहीं समाती...' एक रजकण भी नहीं रह सकता, समा सकता नहीं।

'उसी प्रकार विभाव का अंश हो तब तक स्वभाव की पूर्णता नहीं होती।' आहा..हा..! व्यवहार रत्नत्रय का विभाव का अंश जब तक हो... आहा..हा..! तब तक पूर्णता-आनंद की दशा और केवलज्ञान की पूर्ण प्राप्ति तब तक नहीं होती। तो व्यवहार करनेलायक है ऐसा कर्तव्य है? आता है और परिणमन है इसलिये कर्ता है, ऐसा ज्ञानी को भी कहने में आता है। लेकिन करनेलायक है ऐसी बुद्धि नहीं रहती। आहा..हा..! ऐसी बातें हैं। समझ में आया? वह करनेलायक है ऐसी बुद्धि छूट गई। अरे..! मैं शुद्ध हूँ, परिपूर्ण हूँ, अबंध हूँ, ऐसा जो विकल्प, राग है वह भी छूट गया तब निर्विकल्प दृष्टि का अनुभव होता है। आहा..हा..!

स्वभाव सहजानंद प्रभु, इसका अनुभव कब होता है? सम्यग्दर्शन, अनुभव कहो, दर्शन सम्यक्

कहो, अनुभूति-स्वभाव की अनुभूति कहो (कब होती है)? पूर्ण चिदानंद भगवान आत्मा की अनुभूति-स्वभाव का अनुसरण करके जो आनंद की दशा होती है, उसमें विकल्प का अंश भी सहायक नहीं। आहा..! एक विकल्प के अंश की भी रुचि रहे तब तक अनुभूति, सम्यग्दर्शन नहीं होता। और बाद में रुचि नहीं, दृष्टि नहीं है, उत्साह-यह ठीक है, ऐसा उत्साह भी निवृत्ति हुआ है, लेकिन राग है, सही उस राग का अंश भी जब तक रहे तब तक स्वभाव की पूर्णता प्राप्त नहीं होती। आहा..हा..! समझ में आया?

अरे..! आठ वर्ष का बालक हो (वह भी) सम्यग्दर्शन पाकर केवलज्ञान पाते थे। आहा..हा..! अरे..! प्रभु! तेरे में इतनी ताकत है! उसे कोई उम्र की जरूरत नहीं। आहा..हा..! भगवान शाश्वत वस्तु पड़ी है न अंदर! नित्यानंद का नाथ, सहजात्म स्वरूप सहज आत्म स्वरूप, ऐसी त्रिकाली शाश्वत वस्तु है। उसको दृष्टि में लेकर अनुभव होता है और उसमें स्थिर होकर केवलज्ञान होता है। आहा..हा..! आठ वर्ष का बालक राजकुमार हो, लेकिन अंतर पूर्ण वस्तु है न! आहा..हा..! लेकिन उस चीज में जाना, दृष्टि करना यह कोई अलौकिक चीज है। आहा..हा..!

राग के विकल्प से भी हटकर निर्विकल्प स्वभाव की दृष्टि हो तब आत्मा की अनुभूति होती है। अनुभूति नाम आत्मा स्वभाव सहजानंद प्रभु, उसके अनुसार दशा होती है। वह होने के बाद भी जब तक राग का अंश रहता है तब तक पूर्णता नहीं होती। आहा..हा..! समझ में आया? पहले राग के अंश में रुचि रहती है तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता और बाद में राग की आसक्ति का अंश भी रहे तब तक पूर्णता-केवलज्ञान नहीं होता। ऐसा मार्ग है।

मुमुक्षु :- सम्यग्दर्शन के एक समय पहले दुःख का अनुभव है या सुख का अनुभव है?

पूज्य गुरुदेवश्री :- सम्यग्दर्शन के पहले दुःख का अनुभव है। विकल्प है न! उस विकल्प को तोड़कर अंदर जाते हैं तब आनंद का अनुभव होता है। अरे..! यहाँ तक कहा न? मैं शुद्ध अबंध मुक्तस्वरूप हूँ, शाश्वत चिद्घन अस्ति तत्त्व हूँ, ऐसा विकल्प उठता है वह भी दुःखरूप है। आहा..हा..! १४३ गाथा में आया है न? व्यवहार का तो हम निषेध करते आये हैं... 'समयसार' १४२ गाथा। व्यवहार का निषेध तो हम करते आये हैं परंतु हम तो अभी (ऐसा कहते हैं), शुद्ध चैतन्यघन अखंड अभेद शाश्वत वस्तु का विकल्प रहता है, उसका भी हम निषेध करते हैं। ऐसा नय का पक्ष रहेगा तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होगा।

मुमुक्षु :- एक समय पहले तो स्वभाव की महिमा...

पूज्य गुरुदेवश्री :- दुःख है, दुःख है, राग है न!

मुमुक्षु :- है तो स्वभाव की महिमा...

पूज्य गुरुदेवश्री :- महिमा आयी तब तो सम्यग्दर्शन हो गया। महिमा किसको कहें? महिमा, यह अच्छा है, ऐसा विकल्प आया, इस महिमा का विकल्प आया वह तो दुःखरूप है। आहा..हा..! सूक्ष्म बात है, भाई! अद्भुत वस्तु है, अनुभव पहले ऐसा विकल्प आया (वह दुःखरूप) है। इसीलिये तो कहा, सम्यग्दृष्टि को अनुभव होने के बाद भी विकल्प तो आता है, लेकिन उसे यह मेरी चीज है, ऐसा उत्साह निवृत्त हो गया है, जाननेवाला रह गया है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहा..हा..! यह तो वीर का पंथ है, कायर का काम नहीं यहाँ। आहा..! लोग चाहे जो कहे, ऐसा है, वैसा है। भाई है न? उसने भाई की तारीफ की है, आप अब निश्चय के साथ व्यवहार लेने लगे, इसलिये बहुत अच्छी बात है। बात यह है कि व्यवहार आये तो वह ठीक है, ऐसा उसका भाव है। आहा..हा..! व्यवहार आता है तो खुश

होता है, लेकिन व्यवहार आया वह तो राग है। अरे..! प्रभु! गुण-गुणी का भेद,... 'परमात्मप्रकाश' में निश्चय के दो भेद लिये हैं न? निश्चय एक पूर्णानंद है, ऐसा विकल्प (आये) वह भी एक निश्चय का विकल्प है। वह आस्रव है और अंदर निश्चय निर्विकल्प हुआ वह अनास्रव और संवर है। ऐसी बात है, भाई! वादविवाद से पार नहीं आता आहा..हा..!

सहज स्वरूप शाश्वत चैतन्यघन प्रभु, जिसमें विकल्प का अवकाश नहीं। जैसे आँख में किरकिरी नहीं समाती, वैसे भगवान आत्मा में राग का अंश नहीं। और ऐसा अनुभव हुआ बाद में भी राग का कण अस्थिरता का रहता है, तब तक पूर्णता की प्राप्ति नहीं होती। राग के कण से पूर्णता की प्राप्ति नहीं होती। उसका अभाव करने से पूर्णता प्राप्त होती है। बात तो ऐसी है, बापू! सत्य तो यह है। उसे कहीं भी कुछ भी न्यूनता लगा दे तो तुजे कलंक लगेगा, भाई! आहा..हा..!

वीतरागमूर्ति प्रभु, स्वयं वीतराग बिंब है, जिनबिंब आत्मा है, उसमें अनुभव में कोई विकल्प का अंश जो दुःखरूप है उसकी सहाय, मदद बिलकुल नहीं। आहा..हा..! यहाँ कहते हैं कि प्रथम तो सम्यग्दर्शन में राग के कण का अंश का प्रेम रह गया तो सम्यग्दर्शन नहीं होता। एक बात। बाद में 'उसी प्रकार विभाव का अंश हो तब तक स्वभाव की पूर्णता नहीं होती।' बराबर है? आहा..हा..! समझ में आया?

'अल्प संज्वलन कषाय भी...' संज्वलन-चौथे कषाय का थोड़ा अंश। आहा..हा..! बुद्धिपूर्वक पंच महाव्रत आदि का विकल्प है वह भी नुकसान करनेवाला है। आहा..हा..! वह आगे बढ़ने नहीं देता। आहा..हा..! और सप्तम (गुणस्थान में) अंदर ध्यान में गये तो भी अबुद्धिपूर्वक का राग रहा, तब तक पूर्णता प्राप्त नहीं होती। समझ में आया? ऐसा वीतराग का मार्ग है, भाई! सर्वज्ञ परमात्मा

की दिव्यध्वनि में तो यह आया है। बाकी सब अपने घर की गड़बड़ करे...

'अल्प संज्वलन कषाय भी है तब तक वीतरागता और केवलज्ञान नहीं होता।' यहाँ कहते हैं कि राग आता है तो बराबर अच्छा आया। निश्चय के साथ व्यवहार आया तो अच्छा आया, लेकिन व्यवहार आया वह नुकसानकारक आया है। ज्ञानी को हेयबुद्धि से राग आता है, आता है। समझ में आया? आहा..हा..! पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान का... भाई! उसे मालूम नहीं। भाई! प्रभु! तेरी चीज अतीन्द्रिय आनंद और अतीन्द्रिय वीतराग स्वभाव से भरपूर भरी है। आहा..हा..! ऐसी चीज को विकल्प का सहारा हो तो सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा है नहीं। और बाद में विकल्प का सहारा हो तो केवलज्ञान होता है, (ऐसा है नहीं)। ऐसी चीज है, भाई!

मुमुक्षु :- तो फिर है क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री :- यह है, वस्तु यह है। आहा..हा..! उसे ज्ञान में ऐसा निर्धार पहले करना पड़ेगा, प्रभु! यदि ज्ञान में निर्धार में फेरफार होगा तो अंतर में जा नहीं सकेगा, दरबार में नहीं जा सकेगा। अंदर ऊँडे ऊँडे राग का प्रेम और रस रहा, वह चैतन्य के रस में घूस नहीं सकता। ऐसी बात है, प्रभु! क्या हो? 'तब तक वीतरागता और केवलज्ञान नहीं होता।' १७३ (बोल) पूरा हुआ।

'वचनामृत' की प्रशंसा बहुत आयी है। 'आत्मधर्म' हिन्दी पुस्तक आता है न? उसमें कुछ लोग ने लिखा है, बहुत अच्छा है। भाई! शांति से आग्रह छोड़कर, सत्य क्या है, ऐसा ज्ञान करे तो उसे पता लग जाये। आहा..हा..! कि यह बात ही सत्य है। बाकी सब व्यवहार से होता है, व्यवहार आता है तो हमें ठीक लगता है (वह सब विपरीतता है)।

आठवीं गाथा में तो ऐसा कहा, कि मुनिराज

संतों या ज्ञानी आत्मा, दूसरे को आत्मा कहा लेकिन वह आत्मा का अर्थ समजा नहीं तो मुनिराज स्वयं, कहनेवाला दूसरा था, अपने निश्चय सहित व्यवहार में आये, तब उसका अर्थ उसे बताया कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य को प्राप्त हो वह आत्मा। आहा..हा.. ! आया है न ? 'शशीभाई' ! आठवीं गाथा। आहा..हा.. ! दिगंबर संतों की वाणी, दुनिया में कहीं कोई वस्तु, कोई मार्ग के साथ उसका मेल खाये ऐसा नहीं है। वीतराग वाणी वीतराग के भाव से निकली हुई वाणी है। आहा.. ! ऐसा कहते हैं.. आहा..हा.. ! आत्मा में जब तक राग का अंश रहा, आता है। राग के अवलंबन बिना चैतन्य के अवलंबन से आत्मा का अनुभव हुआ, बाद में भी राग तो रहता है। रुचि उसमें से हट गई, लेकिन अस्थिरता रह गई। समझ में आया ? जब तक अस्थिरता रह गई, तब तक केवलज्ञान और वीतरागता नहीं होती। जब तक व्यवहार का विकल्प आता रहेगा तब तक वीतरागता नहीं होगी। आहा..हा.. ! अरे.. ! ऐसा मार्ग। अरे.. ! इसका निर्णय और अनुभव करने के लिये यह मनुष्यभव मिला है।

'छ ढाला' में तो ऐसा कहा, कि जैसे चिंतामणि की प्राप्ति हो ऐसे निगोदमें से त्रस की प्राप्ति चिंतामणि समान है, भाई ! अरे..रे.. ! वहाँ अनंत.. अनंत.. अनंत... अनंत... काल निगोद की दशा ! आहा..हा.. ! शब्द तुम्हें ठीक नहीं लगेंगे। अंदर शब्द का माहात्म्य क्या है ? अनंत अनंत एक शरीर में निगोद और जिसके ज्ञान का उघाड़ एक अक्षर के अनंतवें भाग में, उसके दुःख की वेदना, आहा..हा.. ! आनंद का नाथ अंदर बिराजता है लेकिन पर्याय में अक्षर के अनंतवां भाग, एक शरीर में अनंत आत्मा ! आ..हा.. ! क्या है यह ?

उसमें से निकलकर त्रसपना प्राप्त करना वह चिंतामणि समान है। अरे.. ! भाई ! तुझे कीमत नहीं। कीमत क्यों नहीं है ? धर्म करने के लिये। मनुष्यपना मिला वह कोई भोग के लिये या विषय के लिये, व्यापार करने के लिये यह मनुष्यपना है ? समझ में आया ?

'गोमटसार' में तो ऐसा लिखा है, मनुष्य किसे कहें ? ज्ञायते इति मनुष्य। जाननेवाला हो वह मनुष्य है, बाकी पशु है। आहा..हा.. ! चैतन्यमूर्ति भगवान पूर्ण आनंद और ज्ञान का सागर नाथ, शाश्वत वस्तु अंदर बिंब, जिसके कर्तृत्व में कोई है नहीं, उसका कोई कर्ता नहीं, उसकी कोई आदि नहीं, और उस शाश्वत वस्तु का कोई अंत नहीं। इस शाश्वत वस्तु में अनंत शक्तियाँ हैं उस शक्तियों का अंत नहीं। वर्तमान में, हाँ ! शक्ति का अंत नहीं है। आदि और अंत अहीं, भूत और भविष्य वह दूसरी बात है। लेकिन आत्मा में जो अनंत शक्तियाँ-गुण हैं, उस गुण का वर्तमान में अंत नहीं कि यह अंतिम गुण रह गया। आहा..हा.. !

प्रभु ! चैतन्यद्रव्य स्वरूप भगवान, जिसकी शुरुआत नहीं, जिसका अंत नहीं और वर्तमान में उसके अनंत गुण का छेडा-अंत नहीं। आहा..हा.. ! आहा..हा.. ! क्या चीज है यह ? समझ में आया ? ऐसी चीज को प्राप्त करना। राग के कण का भी प्रेम छूट जाये तब उसे अनुभव होगा। आहा..हा.. ! बाद में राग का, व्यवहार के राग का कण आता है, अरे.. ! सातवें, आठवें, नववें, दसवें गुणस्थान में अबुद्धिपूर्वक का राग रहेगा तब तक केवलज्ञान नहीं होगा। आहा..हा.. ! राग आया है वह ठीक है, सहायक है, ऐसा है ? आहा.. ! यह तो अकेला मक्खन है ! आहा..हा.. !

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (मई-२०१३) का शुल्क श्री शांतिलालभाई डेडीया, (०९८२०२२८२७९) के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।



श्री परमागमसार वचनामृत-३७५ पर
पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन, प्रवचन-१९१
(दि.२४-१०-१९८३, भावनगर)

प्रश्न :- (हमें) बहुत समयसे तत्त्वका अभ्यास करनेपर भी आत्मा क्यों प्राप्त नहीं होता ?

उत्तर :- आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दका नाथ प्रभु है, इसके अतीन्द्रिय आनन्दकी तीव्र प्यास लगे, आत्माके सिवाय अन्य कहीं भी मिठास न लगे, रस न आए, जगतके पदार्थोंका रस फिका लगे, संसारके रागका रस उड़ जाए । अहो ! ! जिसके इतने-इतने बखान होते हैं - वह आत्मा, अनन्तानन्त गुणोंका पुँज प्रभु है कौन ? ऐसा आश्चर्य लगे, उसकी लगनी लगे, उसकी धूनमें चढ़े, उसे आत्मा मिले ही; न मिले ऐसा हो ही नहीं सकता । जितना (पुरुषार्थरूप) कारण हो उतना ही कार्य होगा । कारण बिना कार्य नहीं होता, कारणकी न्यूनतासे भी कार्य नहीं होता । जिसे आत्माके आनन्द स्वरूपकी अन्तरमें सच्ची लगनी लगे, छटपटाहट लगे, स्वप्नमें भी वह ही वह रहे - उसे आत्मा प्राप्त होता ही है । ३७५

३७५. प्रश्न है। '(हमें) बहुत समय से तत्त्व का अभ्यास करनेपर भी आत्मा क्यों प्राप्त नहीं होता?' हमारे समाजमें बाहर में जहाँ भी स्वाध्याय देने जाते हैं तब पूछा जाता है कि, हम तत्त्वज्ञान का अभ्यास, वह भी गुरुगम द्वारा जो पद्धति शुरू हुई है उस प्रकार से (करते हैं), वरना अपनी मान्यता के अनुकूल तरीके से दूसरे कई जीव भी तत्त्वाभ्यास करते हैं उसमें विद्वता भी प्राप्त कर लेते हैं, ख्यातिपात्र विद्वान माने जाते हैं, परन्तु वैसे भी नहीं। हम तो ज्ञानी गुरु ने जिस प्रकार सिद्धांतों को समझाया है उन सिद्धांतों को समझकर तथाप्रकार से तत्त्वज्ञान का अभ्यास करते हैं। हमारे यहाँ जैसे चलता है वैसे देखे न!

वैसे 'अभ्यास करने पर भी आत्मा क्यों प्राप्त नहीं होता?' यानी कि अनुभव क्यों नहीं होता है ?

ऐसा प्रश्न उठाया है। यह प्रश्न Agenda पर है वर्तमान में। उत्तर देते हैं। देख भाई! जाँच कर ले। आत्मप्राप्ति होनेवाले की दशा कैसी होती है उसे जरा जाँच ले। ये हम तुझे कहते हैं। तेरा प्रकार इससे सुसंगत है क्या? बस! इतनी तुझे जाँच करनी है। मिलान करना मतलब सिर्फ मिलाना, इससे ज्यादा तुझे कुछ करने की बात नहीं है।

उत्तर :- आत्मा अतीन्द्रिय आनंद का नाथ प्रभु है, उसके अतीन्द्रिय आनंद की तीव्र प्यास लगे, आत्मा के सिवाय अन्य कहीं भी मिठास न लगे, रस न आए... ये शुभभाव आते हैं उसमें उन्हें मिठास नहीं लगती ऐसा कहते हैं। ठीक! ये स्वरूप का चिंतवन-मनन हो उसमें उन्हें मिठास नहीं लगती। तत्त्वज्ञान विषयक विकल्प की प्रवृत्ति हो उसमें उन्हें मिठास नहीं लगती है ऐसा कहना चाहते

हैं। दूसरी बात तो दूसरे परिणाम, शुभ परिणाम, त्याग-वैराग्य के सो तो इससे हलकी कक्षा में जाते हैं। परन्तु उच्च से उच्चतर कक्षा के आत्मा विषयक परमात्मपद स्वभाव, परमात्मस्वभाव उसे विकल्प में ले तो भी उन्हें उस विकल्पमें मिठास नहीं लगती ऐसा कहना है। क्यों नहीं लगती? कि स्वयं अतीन्द्रिय आनंद का नाथ-यानी परिपूर्ण आनंद का स्वरूप है। उसमें से आनंद की उत्पत्ति होती है और अनुभव में आता है। वह आनंद उसे चाहिये। कषाय की मंदता का आनंद उसे नहीं चाहिये, ऐसा कहते हैं। किसी भी Artificial चीज में वह धोखा खाना नहीं चाहता।

यह रेशम का कपड़ा आता है न? Art silk कहते हैं जिसे। बहुत चमकता है। असली रेशम होता है इससे भी ज्यादा मुलायम और ज्यादा चमकीला व आकर्षक लगता है। और तो और रेशम से कम दाम में उपलब्ध! लीजिये! Double फायदा। शोभा बढ़ाये और दाम भी कम। भाई! तू धोखा खा गया। उतने पैसे भी तेरे बेकार गये। क्या कहते हैं कि, भाई! जा तू घर जा। धोते-धोते रोअेगा, धोते ही रोनेवाला है। क्यों क्या हुआ? बेकार की चीज निकली।

वैसे शाता का सुख है, शुभभाव से उत्पन्न होता हुआ शाता का सुख जो होता है उसमें सच्चा मुमुक्षु राजी नहीं होता और जो राजी होता है वह सच्चा मुमुक्षु नहीं है। मुमुक्षु मतलब मोक्ष की इच्छावान, परिपूर्ण शुद्धता का इच्छावान।

मुमुक्षु :- वह कलम तो आ गई है। वह कलम तो डाली है।

पूज्य भाईश्री :- मूल बात ही वह है। प्रथम यह नक्की कर। वरना एक कदम सही नहीं होगा। यह सीधी बात है। एक भी कदम रखेगा, बाहर कदम रखेगा वह गलत दिशा में होगा।

कहते हैं कि अतीन्द्रिय आनंद की जिन्हें लगन लगी है, अनुभव का आनंद जिसे चाहिये, आत्मानंद

जिसे चाहिये वह अन्यत्र कहीं भी धोखे में आना नहीं चाहता। इतना व्रत किया, इतना तप किया, इतना यह (किया), इतने आत्मा संबंधित विचार, विकल्प और चिंतवन किये, शास्त्रवांचन किये। ज्ञान की क्रिया और तप की क्रिया दोनों की। हमने इसमें इस विषय पर विस्तार किया है न?

ज्ञानमार्ग और क्रियामार्ग। दो मार्ग से जीव आगे बढ़ता है। मोक्षमार्ग में आत्माका हित करने की इच्छासे प्रायः कुछ जीव ज्ञानमार्ग पर तो कुछ क्रियामार्ग पर आगे बढ़ते हैं। ज्ञानमार्ग पर आगे बढ़नेवाले कई सारे शास्त्रों का अध्ययन करना, पढ़ना, सुनना, विचार करना ये सारी क्रियाओं में व्यस्त रहते हैं। क्रियामार्ग पर आगे बढ़नेवाले जीव अनेक प्रकार के बाह्य विषयों का एवं बाह्य पदार्थों के त्याग करने में आगे बढ़ते हैं। परन्तु जबतक अतीन्द्रिय आनंद की परम अवगाढ दशा हुए बिना, ऐसा शब्द इस्तेमाल किया है। स्वरूप भावना की अवगाढ दशा प्राप्त हुए बिना यानी पर्याप्त भावना की उत्पत्ति होनी चाहिये। यहाँ लगन शब्द लिया है। छटपटाहट चले ऐसा कहते हैं। अभी ही चाहिये। छटपटाहट का मतलब ऐसा है। देरी होना मंजूर नहीं उसे छटपाहट कहते हैं। अब उसने जो भी प्रवृत्ति आगे की है वे सारी उसे किसी न किसी प्रकार का दूषण का कारण हो जाती है। क्योंकि अनादिसे पर्यायदृष्टि जीव है यह पर्याय के असत् अभिमानमें आये बिना रहता नहीं। मैंने यह किया, मैंने यह छोड़ा, मैंने इतना स्वाध्याय किया, मुझे इतना ज्ञान मिला और मुझे इतनी कषाय की मंदता रहती है, अतः ज्ञान का फल भी यथोचित मुझे मिला। पहले कषाय की तीव्रता होती थी, अब उतनी तीव्रता नहीं होती। इतना फल भी मुझे मिला। कहते हैं कि, वे सारी बातें धोखेबाजी की हैं। उसमें कहीं संतुष्ट होने जैसा नहीं है।

यहाँ से बात उठायी है कि, स्वयं आनंदस्वरूप है उसमें से आनंद मिला नहीं और इस आनंद के

अभाव में कहीं न कहीं ऐसा लगा कि, यह ठीक किया और यह ठीक किया। (तू) धोखा में रह गया, ऐसा कहते हैं। तुझे आत्मा के आनंद की जरूरत नहीं है, ऐसा है। परन्तु जीव को जब स्पष्टरूप से यह समझ में नहीं आता है तब लगता है ऐसा कि, नहीं नहीं यह भी मुझे चाहिये और यह भी चाहिये। आत्मा का आनंद तो चाहिये ही चाहिये परन्तु इसके पहले आत्मा संबंधित विचार में शांति तो लगती ही है। ऐसी शांति भी जरूरी तो है ही। प्रथम ऐसी शांति भी आनी तो चाहिये, जो मुझे हो रही है।

मुमुक्षु :- संतुष्ट हो जाता है।

पूज्य भाईश्री :- संतुष्ट हो जाता है, इसकी गिनती हो जाती है, कितना किया, ऐसा करता हूँ यह जो गिनती का विषय है, वह जीव के संतोष को ही प्रसिद्ध करती है। ऐसा अन्यभाव में संतुष्टपना ही मिथ्यात्व का रस है। ऐसा है। वरना द्रव्यलिंगी अंगपूर्व का पठन और पंच महाव्रत व अट्टाईस मूलगुण का निरतिचार पालन करे उसे भी दूसरा कौनसा दूषण हो सकता है? कि उसे संतोष आ जाता है वह उसका दूषण है। ऐसा करता हूँ, इतना करता हूँ। अन्यभाव में अपने कर्तृत्वको वह दृढ़ करता है। जो आत्मिक आनंद के परिणाम हैं सो तो नहीं है फिर भी अन्यभाव में कर्तृत्वको वह दृढ़ करता है। और शांता की शांति, कषाय की मंदता की शांति वहाँ बहुत है। एकदम कषाय मंद हो, बहुत ही मंद हो तब जीव को शांता की शांति हुए बिना (रहती नहीं)। शांता प्रकृति की वह शांति है। पुद्गल की (है), उसकी शांति का उसे वेदन है उसमें वह धोखा खा जाता है। ऐसा है।

मुमुक्षु :- आत्मा की शांति बिलकुल नहीं है।

पूज्य भाईश्री :- वह आत्मा को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता में रुकावटरूप प्रबल साधन है, प्रबल कारण है। ऐसा-ऐसा मार्गदर्शन का विषय सत्पुरुषोंने स्थापित किया है।

२५४ पत्रांक में 'श्रीमद्जी' ने यह विषय उठाया है कि, मुमुक्षुजीव को योग्यता में रुकावटरूप तीन कारण मुख्यरूप से हमने जाने हैं। इन तीन कारणों में पदार्थ का अनिर्णय है। सत्पुरुष के प्रति विनय की कमी, अल्पता है। परमदैन्यत्व की कमी। उनके ऐसे शब्द हैं। परम दैन्यत्व का अर्थ स्वयंने किया है कि परम विनय की कमी। और तीसरा जीव को वर्तमान परिणमन में संतुष्टपना आता है। यानी कि ऐसे मुमुक्षु को सामान्यरूप से कषाय की जो मंदता रहती है उसमें उसे साता का वेदन रहता है। इस शांता में उसको मिठास लगती है। 'श्रीमद्जी' ने उसे यों कहा कि, लौकिक सुख की उसे अल्प भी सुखेच्छा पड़ी है। लौकिक सुख की अल्प भी सुखेच्छा यानी कि भौतिक सुख में सुख का थोड़ा भी अभिप्राय रहना यह जीव की योग्यता में बाधारूप कारण है। वह शांता में अटक जायेगा। अनुकूलता में वह अटक जायेगा, कषाय की मंदतारूप शांतामें वह अटक जायेगा। वह उसकी योग्यतामें अवरोधक कारण है। इसलिये उसकी योग्यता अटक जाती है। उसमें फिर अतीन्द्रिय आनंद की छटपटाहट नहीं रहती ऐसा कहते हैं। उस उत्कंठा से विरुद्ध भाव वह हो गया। कहाँ आनंद के लिये तीव्र उत्कंठा और कहाँ ऐसा उसे ठीकपना लगना! दोनों बात को आपस में विरुद्धता है ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- वह तो अटक गया और नीचे जायेगा।

पूज्य भाईश्री :- वह तो नीचे गीरा ही समझो। खेल खलास। सीढ़ी चूक गया। उसका तो पतन होगा ही। उसके परिणाम में गिरावट आये बिना रहेगी नहीं।

'रस न आए...' मिठास भी लगे नहीं और रस भी आए नहीं, उसकी महत्ता भी आए नहीं और इसमें संतुष्टपना भी न आए। 'जगतके पदार्थोंका रस फीका लगे, संसार के राग का रस उड़ जाये' जो भी संग-प्रसंग उदयमान हैं उसमें

कहीं भी उसे रस नहीं आता अपितु नीरसता आ जाती है। अपना प्रयोजन उसे कहीं नहीं भासित होता। अपना प्रयोजन नहीं भासित होता है। उसका प्रयोजन तो मोक्ष है। यहाँ कहीं भी उसे प्रयोजन नहीं लगता। जीव का ऐसा स्वभाव है कि जहाँ उसे अपना प्रयोजन लगे वहीं उसको रस आता है, बिना प्रयोजन में उसे रस नहीं आता।

रास्ते में जाते हुए कोई कुतूहल के परिणाम हो लेकिन जब पता चले कि इसमें मेरा कोई प्रयोजन नहीं है, तो चलो अपने आगे। रास्ते में जाते-जाते कोई आदमीओं की भीड़ देखे कि क्या है? भाई! क्यों इतने लोगों की भीड़ इकट्ठी हुई है? तो कोई कहे, एक आदमी लकड़ी बेच रहा है। तरह-तरह की लकड़ी लाया है। जीव सोचेगा मुझे कहाँ लकड़ी चाहिये, चलो आगे। कि खड़ा रहेगा? फालतू चीज का पता चले कि रस नहीं आता है। इसप्रकार जीव को जब मोक्ष का निदान है, मोक्ष का प्रयोजन है तब उसे संसार का प्रयोजन नहीं है। सीधी सी बात है। इसमें पोल चलनेवाली नहीं है।

जो भी सांसारिक प्रसंग में खड़ा है वहाँ जीव को रस आता है कि नहीं आता है? यह सीधी बात है। मिलान तो कर सकता है कि नहीं? अगर रस आता है तो मोक्षार्थी नहीं है। सीधा लागू पड़े ऐसी बात है। गड़बड़ चले ऐसा नहीं है। इसमें कोई दूसरा अधिक मानने लगे तो यहाँ ऐसा सचमूच हो जाये ऐसा है नहीं। दूसरा माने कि, भाई बहुत आगे बढ़े हैं, बहुत आगे बढ़े हैं, परन्तु इसमें ऐसा नहीं चलता। केवलज्ञान में किसी की शरम नहीं काम आती। केवलज्ञानमें तो वस्तु का जैसा स्वरूप है ठीक वैसा ही जानेगा, डीग्री टु डीग्री बात है। वहाँ किसी की सिफारीश काम नहीं आती कि बहुत समय से 'सोनगढ़' जाते हैं इसलिये कुछ तो हमें अधिक मार्क दीजिये। यह बात नहीं चलती। ये तो हमारे खुद पर बात को लेनेके लिये 'सोनगढ़' की बात कही। हमें तो स्वलक्ष से लेना चाहिये

न! वरना अन्यथारूप से क्यों बात करें?

'अहो!! जिसके इतने-इतने बखान होते हैं- वह आत्मा, अनन्तानन्त गुणों का पुंज प्रभु है कौन? ऐसा आश्चर्य लगे, उसकी लगनी लगे, उसकी धून चढ़े, उसे आत्मा मिले ही; न मिले ऐसा हो ही नहीं सकता।' Guaranteed बात है। मिलेगा की नहीं मिलेगा, उसके भाग्य में होगा तो मिलेगा वरना नहीं मिलेगा, क्रमबद्ध में होगा तो मिलेगा वरना नहीं मिलेगा। काललब्धि में होगा तो मिलेगा वरना नहीं मिलेगा। ऐसी कोई बात नहीं है। उसकी काललब्धि भी आ गयी और उसका क्रम भी आ गया। और उसका भाग्य, वास्तवमें उसका भाग्य ही उदय हुआ है ऐसा है। क्योंकि उसका पुरुषार्थ जो जागृत हो गया।

'जिसके इतने-इतने बखान...' यानी प्रशंसा, गुणमहिमा सर्वज्ञ की वाणी करती है, जिस परमात्मतत्त्व की प्रशंसा, गुणप्रशंसा सर्वज्ञ की वाणी करती है, संतों की वाणी करती है, महात्माओं की वाणी करती है ऐसा आत्मा है कौन? इसका जीव को कुतूहल जागृत होना चाहिये। क्या कहते हैं? 'वह आत्मा अनन्तानन्त गुणोंका पुंज प्रभु है कौन?' अनन्त गुण भी कैसे कि अलौकिक गुण। लौकिक गुणोंमें लोगों को महत्ता आती है। क्रोध करनेवाले के प्रति क्षमारूप मंदकषाय का विकल्प रखे तो लोगोंको ऐसा लगे कि आहाहा..! देखो तो सही! इतना क्रोध किया फिर भी प्रतिकार नहीं किया।

मुमुक्षु :- दो-तीन थप्पड़ मार दिये फिर भी कुछ नहीं बोला, बहुत शांत...

पूज्य भाईश्री :- कोई प्रतिकार नहीं, भाई! सो तो फिर भी लौकिक गुण है। जिसे परमार्थ के प्रकरण में दोष गिना जाता है। ऐसा यह गुण है। उसका गुण तो फिर कैसा? ऐसे लोकोत्तर अनन्त गुणोंका पुंज है। इसे पहचानने की, अनुभव करने की लगन लगे, धून चढ़े, धून चढ़े, उसमें जोर लेना है। दूसरा विषय नहीं है। परिणाम में आत्मप्राप्ति

के अलावा दूसरा विषय नहीं रहता। एक बार तो ऐसी परिस्थिति आये बिना किसी को प्राप्ति होती है ऐसा इस जगत में बिलकुल संभव नहीं है। यह इसके process के परिणाम हैं, मिलान करने के हेतु।

‘उसकी लगनी लगे, उसकी धून में चढ़े, उसे आत्मा मिले ही’ मिले। अब ये तो शुभभाव है कि क्या है? धून और लगनी। ठीक! भाई! इसमें केवल शुभभाव नहीं है उसमें ध्येय और लक्ष्य ज्ञान का है। वे ज्ञान के परिणाम हैं। सन्मुख हुए ज्ञान में ज्ञान जो सन्मुख हुआ है ये लक्ष के परिणाम हैं। उसे केवल शुभाशुभ के खाते में नहीं डाल देना चाहिये। चारित्रगुण के पर्यायों की आप शुभाशुभ में खतौनी कर सकते हो लेकिन ज्ञान को किसमें गिनेंगे आप? उसमें तो शुभ और अशुभ का भेद नहीं उत्पन्न होता।

जैसे श्रद्धान में प्रत्यक्ष-परोक्ष का भेद नहीं पड़ता, सिर्फ ज्ञान में ही पड़ता है। वैसे शुभाशुभ का भेद चारित्र के परिणामन में ही पड़ता है, ज्ञान के परिणामन में नहीं, रुचि के परिणामनमें नहीं, पुरुषार्थ के परिणामनमें नहीं। ये धून जो लगती है उसमें जीव का पुरुषार्थ कार्य करता है। पुरुषार्थ के फल में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई है। फिर वह केवल शुभभाव का पुरुषार्थ नहीं है अपितु आत्मप्राप्ति के पुरुषार्थ में आत्मा प्राप्त होता है। शुभभाव के पुरुषार्थ में शुभभाव की प्राप्ति है और आत्मिक पुरुषार्थ में आत्मा की प्राप्ति है। जिसे सम्यग्दर्शन में आत्मा प्राप्त हुआ उसका आत्मिक पुरुषार्थ है या शुभभाव का पुरुषार्थ है? कि, उसका आत्मिक पुरुषार्थ है।

मुमुक्षु :- ज्ञान का बल बढ़ता है।

पूज्य भाईश्री :- ज्ञानबल बढ़ता है वहाँ। ज्ञानबल कहो या ज्ञान सहित का पुरुषार्थ कहो। बल नाम पुरुषार्थ।

देखो! Guaranteed बात (की है) ‘न मिले ऐसा हो ही नहीं सकता।’ तीनकाल में नहीं हो

सकता ऐसा कहते हैं। भूतकाल के अनन्त जीवों को इसीतरह सफलता मिली है कि जिसमें वे कभी निष्फल नहीं गये। भविष्य में भी अनन्त जीवों को ऐसा ही (होगा), अभी वर्तमान में भी जिसको करना हो उसके लिये यही वस्तुस्थिति है।

देखो! सिद्धांत लेते हैं अब, कि ‘जितना (पुरुषार्थरूप) कारण हो उतना ही कार्य होगा।’ गुड़ डालेंगे उतना मीठा होगा। यह तो कहता है कि हम जो तत्त्व का अभ्यास करते हैं वही हमारा पुरुषार्थ है। तत्त्वज्ञान का अभ्यास हम कई बरसों से करते हैं, काफी अरसे से हम पुरुषार्थ तो करते हैं फिर भी हमें अनुभव क्यों नहीं हो रहा है? कहते हैं कि तेरा पुरुषार्थ शुभ का है कि आत्मा का है? इतनी बात है। गुड़ डाला नहीं है और तू पूछता है यों कि, क्यों मीठा नहीं हुआ? नहीं होगा। गुड़ डाले और मीठा न हो ऐसा बन ही नहीं सकता।

‘जितना (पुरुषार्थरूप) कारण हो उतना ही कार्य होगा।’ नियमबद्ध बात है। ‘कारण बिना कार्य नहीं होता।’ परिपक्व अवस्था है। सम्यग्दर्शन जो है वह आत्मा के अनुभव की परिपक्व हुई अवस्था है। अकाल में नहीं आयी बल्कि स्वकाल में उत्पन्न हुई अवस्था है। उसका ठीक यथोचित कारण उपस्थित हुआ है फिर कार्य हुआ है। भीतर में उसका यथार्थ कारण उपस्थित होने पर कार्य आया है। कोई ऐसे ही अकारणरूप से कार्य नहीं आया।

यदि कार्य नहीं होता है तो वह ‘कारण की न्यूनता से...’ जबतक सम्यग्दर्शन नहीं होता तबतक या तो कारण में क्षति है इसीलिये कार्य सम्पन्न नहीं हो रहा है। जब क्षति के कारण भी कार्य सम्पन्न नहीं होता है तो विपर्यास में खड़े-खड़े कार्य सम्पन्न हो जाये यह तो कैसे सम्भव है। थोड़ी क्षति को विपर्यास लिया। कमी-क्षति क्या है और विपर्यास क्या है? यह तनिक विचारणीय विषय है। विशेष लेंगे।



द्रव्यदृष्टि प्रकाश ग्रंथमें से दृष्टि के परिणामन और दृष्टि के विषय पर पूज्य श्री सोगानीजी के वचनामृत

(निज सुख के लिए) सारे जगत् में बस.... 'मैं ही एक वस्तु हूँ और कोई वस्तु है ही नहीं।' अरे ! दूसरी कोई वस्तु है या नहीं है, ऐसा विकल्प भी क्यों? ५७८.

❀

परिणाम मात्र व्यवहार है। परिणाम की दृष्टि से दीनता आती है। पर्याय में रुकने से एकांत दुःख होता है। परिणाम उत्पाद-व्यय स्वरूप है। 'मैं' तो अपरिणामी हूँ, जिसमें उत्पाद-व्यय नहीं है; निगोद से लेकर सिद्ध तक वैसा का वैसा ही हूँ। परिणाम में प्रसरने से परिणाम जितना हो जाएगा। (क्षणिकपरिणाम जितना ही अपना जीवन (अस्तित्व) ग्रहण करने से - ऐसे मिथ्यात्व के फलस्वरूप - निगोद का क्षणिक जीवन प्राप्त होता है।) ५८३.

❀

'मैं' तो विकल्प मात्र से और परिणाम मात्र से रहित हूँ। ५८५.

❀

दर्पण में समय-समय पर आकार (प्रतिबिंब जैसा) होता रहता है, तो भी दर्पण का दल ज्यों का त्यों रहता है। ऐसे ही, 'स्वभाव' दर्पण के दल जैसा है; वह स्वयं के साथ तादात्म्य है, आकार के साथ नहीं। त्रिकाली में वर्तमान परिणामन का अभाव है। ५८९.

❀

'स्वभाव' सावधान स्वरूप है। पर्याय में सावधानी होनेपर स्वभाव पकड़ने में नहीं आता। ५९१.

❀

'मैं त्रिकाली अपरिणामी हूँ,' परिणाम मात्र गौण है, वर्तमान में ही ऐसा निश्चय होना चाहिए। ध्रुवस्वभाव सदा प्रसिद्ध है; उत्पाद-व्यय के काल में जुदा प्रकट है। (स्वभाव की) दृष्टि प्रतिसमय पर्याय को गौण करती है। ५९४.

❀

त्रिकालीमें विकार-अविकार कुछ नहीं है। (वह तो जैसा है वैसा है।) ६०६.

❀

'वर्तमान में ही अक्रिय-अपरिणामी हूँ,' अर्थात् कोई क्रिया करने का अभिप्राय नहीं है। कुछ करूँ...करूँ में, स्वयं परिणामन करते परिणाम को करने का ही अभिप्राय रहता है। (जो मिथ्या है।) ६०८.

❀

एक ओर त्रिकाली का पलड़ा और दूसरी ओर क्षणिक का पलड़ा; - जैसे एक ओर माल, दूसरी ओर बारदान; महत्ता मालकी है, बारदान की नहीं। ६१७.

❀

'मैं परिणाम से शून्य हूँ' - ऐसा (रुचिपूर्वक) जोर आना चाहिए। ६२५.

❀

'मेरी' भूमि वर्तमान में इतनी निष्कम्प और नक्कर (ठोस) है कि जिससे 'मैं' वर्तमान में

ही निर्भय हूँ, निरावलंबी हूँ, परिपूर्ण हूँ, निष्क्रिय हूँ, सुखस्वरूप हूँ, कृतकृत्य हूँ, त्रिकाल एकरूप हूँ, अचल हूँ। ६२७.



एक पलड़े में आत्मा, और दूसरे पलड़े में तीन काल-तीन लोक; फिर भी आत्मावाला पलड़ा (भार से) बैठ जाता है, और दूसरा पलड़ा उलट जाता है। ६२९.



‘मैं तो अभी ही सिद्ध हूँ,’ चौदहवाँ गुणस्थान होगा और बाद में सिद्धालय में जाना होगा, क्षेत्रांतर वगैरह होगा; लेकिन यह सब कार्य पर्याय में होगा। पर्याय का कार्य पर्याय में होता है, ‘मेरे’ में नहीं। ‘मैं’ तो अभी ही सिद्धालय में बैठा हूँ ! कभी कहीं आया भी नहीं, गया भी नहीं। ६३७.



आत्मा कैसे प्राप्त होता है :-

अपने त्रिकाली अस्तित्व में अपनापन होनेसे पर्यायबुद्धि छूट जाती है। २५.



प्रश्न :- शुरुआतवाले को अनुभव के लिए कैसे प्रयत्न करना ?

उत्तर :- ‘मैं’ परिणाम मात्र नहीं हूँ; त्रिकाली-ध्रुवपने में अपनापन थाप देना (स्थापित करना) यही उपाय है। (अनादि पर्यायबुद्धि सहित मुमुक्षु जीव उपदेशबोध के अनुसार अपनी भूमिका योग्य परिणाम से प्रारंभ करता है, परंतु सर्व प्रथम पर्यायमें से अस्तित्व उठा करके द्रव्यस्वभाव में अस्तित्व स्थापित करना है - ऐसा लक्ष्य प्रारंभ से ही रहना अत्यावश्यक है, वरना पर्यायबुद्धि दृढ़ हो जानेसे द्रव्यदृष्टि उत्पन्न होनी मुश्किल हो जाती है, और मुमुक्षुता में ही मनुष्य आयु पूर्ण हो जाती है और भवभ्रमण का छेद नहीं होता।) ७०.



एक ही ‘मास्टर की’ (Master key) है; सब बातों में - सभी शास्त्रों में एक ही सार है - ‘त्रिकालीपने में अपनापन जोड़ देना।’ ९०



(आत्मप्राप्ति कैसे होवे ? - इस विषय में जिज्ञासापूर्वक पूछे गये प्रश्न का विस्तृत उत्तर :)

रुचि में खरेखर अपनी जरूरत लगे तब अपनी वस्तु की प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती। चौबीसों घण्टों चिंतन में - बेचिंतन में एक यही (स्वरूप का घोलन) चलता रहे। जिस विषय की रुचि होती है, वह विषय सैकड़ों बाह्य कार्य करते हुए भी चलता ही रहता है। बाहर का उपयोग तो ऊपरी-ऊपरी तौर से चलता है, उसमें जाग्रति नहीं रहती; जिस विषय की रुचि है उसी में जाग्रति रहती है। सैकड़ों कार्य करते रहने पर भी सभी की गौणता ही रहा करती है; मात्र रुचि का विषय ही सदा मुख्य रहता है।

विकल्पात्मक विचार में भी ‘शरीराकार चैतन्यमूर्त’ को टाँक दो... ‘मैं तो यही हूँ।’ सुख-दुःख की जो कोई पर्याय हो, उसकी उपेक्षा रखो. ‘मैं तो यही हूँ’ - विचार चले, उसकी भी गौणता रखो मैं तो वैसा का वैसा ही चैतन्यमूर्ति हूँ - बस ! यही दृढ़ता करते रहो।

सुनना, शास्त्र पढ़ना आदि सभी की गौणता होनी चाहिए; एकांत का ज्यादा अभ्यास रहना

चाहिए (ताकि स्वरूपघोलन बड़े।)

यह (सम्यक्त्व) प्राप्त नहीं हुआ तो जीव निगोद में चला जाएगा - ऐसे निगोद के भय से, अपना कार्य करना चाहे तो वो यथार्थ नहीं। परंतु (अभिप्राय में) निगोद की अवस्था हो या सिद्ध की, 'मेरा' तो कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं ('मैं' अवस्थारूप नहीं,) - ऐसी 'मैं' अचलित वस्तु हूँ - ऐसी श्रद्धा जम जानी चाहिए। पर्याय कैसी भी हो उसकी उपेक्षा ही रहनी चाहिए।

'परद्रव्य के साथ मैं तो कुछ संबंध ही नहीं' ऐसा तो पक्ष होना चाहिए; बाद में वस्तु (त्रिकाली ध्रुव) और परिणाम (उत्पाद-व्यय) इन दो के विचार में ही सब समय लगा देना है।

चौबीसों घण्टों....बस यही (स्वरूप का घूँटण) चलना चाहिए। प्रवृत्तिभाव को गौण करके इस एक ही की मुख्यता चलनी चाहिए - यही प्रयास निरंतर चलना चाहिए। २५०.



प्रश्न :- आत्मा तो दिखता नहीं, तो प्रत्यक्ष कैसे होवे ?

उत्तर :- परिणाम तो दिखता है न! तो परिणाम जिसमें से आता है.... उस (अनंत प्रत्यक्ष) चीज का पहले अनुमान किया जाता है, फिर (वेदन से) प्रत्यक्ष करना। ५०६.

श्री निहालचंद्रजी सोगानीका साधर्मिको लिखा हुआ पत्र

३२

कलकत्ता

१५-११-१९६२

ॐ

श्री... सादर जयजिनेन्द्र।

आपका ता. १२-११-६२ का पत्र मिला। अन्य लोगोंके चरित्रनिर्माण सम्बन्धी आपका दृष्टिकोण खयालमें रखते हुए नीचे स्पष्टीकरण लिखा है:

१. प्रथम तो मैं क्या हूँ व क्या कर सकता हूँ, इसका यथार्थ खुलासा होनेपर कार्यकी यथार्थ सीमा बँध सकेगी। मैं आत्मा हूँ व परिणामका करना और उस ही परिणामको भोगना यह ही मात्र आत्माकी क्रिया है; इसके विपरीत स्वयंके जड़ शरीर आदिका व अन्य आत्माका परिणाम मैं आत्मा नहीं कर सकता, कारण जड़के परिणामका कर्ता जड़ द्रव्य है व अन्य आत्माके परिणामका कर्ता वह आत्मा द्रव्य है। ("उत्पाद्व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्")।

२. उक्त प्रकारका यथार्थ निर्णय हुए बाद परपरिणामके किंचित् भी कर्तापनेका अभिप्राय दूट जाता है। मैं परका कुछ कर ही नहीं सकता, तब पराश्रित परिणाम क्यों करूँ, जो कि स्वयं आकुलतामय ही होते हैं। इन परिणामोंको स्वआश्रित करूँ तो शुद्ध ज्ञान-आनंद व शांतिमय परिणाम होंगे व इनहीका भोगना होगा, जो कि वांछनीय है।

३. स्वमें अर्थात् ज्ञान-आनंद आदि गुणोंके भंडार आत्मामें परिणामोंको पसारते ही साधकपना व मुनिपना आदि क्रमपूर्वक आता है। परिणामोंके इस प्रकारके प्रसरणमें ही यथार्थ ज्ञान, सुखादिका अनुभव उत्पन्न होने लगता है। जिसकी प्रत्यक्षतासे पराश्रित आकुलित परिणाम विषरूप मालूम होने लगते हैं, जो कि सम्यक्दृष्टि साधक व मुनियोंको एक समय मात्रके लिये भी नहीं रुचते।

४. उक्त मान्यता व तद्रूप अनुभव होनेपर अनादिसे चला आया दृष्टिका मोह टूटता है। दृष्टिने जिस स्व अखण्ड स्व आत्माको लक्ष्य किया, उसमें एकसाथ परिपूर्ण परिणामका प्रसरण नहीं होता तब तक परिणामका कुछ अंश अखण्डके साथ सुखरूप परिणामता है व उसही परिणामका कुछ अंश उदयके साथ पराश्रित दुःखरूप परिणामता है। साधक व मुनिके इस प्रकारका पराश्रित परिणाम हुआ रागअंश उपदेशादिकका कारण होता है। यह रागअंश चारित्रमोह है, आकुलतामयी है, यह हर समय हेय है, प्रत्यक्ष दुःखरूप है जो कि मुनियोंको बिल्कुल रुचता नहीं व इसमें उन्हें रस आता नहीं। पुरुषार्थकी निर्बलतासे अखण्ड आत्माकी पूरी पकड़ चारित्र परिणाममें नहीं होनेसे ऐसा रागअंश होता है, जिसका निषेध प्रतिसमय उनकी दृष्टि करती रहती है। एक समयके लिये भी चारित्रमोहस्वरूपी रागअंशको वह अपना कर्तव्य नहीं समझते जो कि प्रत्यक्ष दुःखरूप है। अतः बारम्बार स्वमें स्थित होते हुए, रागअंशको तोड़ते हुए, वह शुद्ध सिद्धरूप हो जाते हैं।

५. मुनियोंके रागांशनिमित्तक उपदेशमें उक्त आशयका संकेत होता है। अच्छी होनहारवाले जीवके वह निमित्तरूप पड़ता है और वह स्वयं भी उपदेशादिककी तरफसे लक्ष्य हटाता हुआ, उपदेश आदिको मुनियोंका कर्तव्य नहीं समझता हुआ, उनकी अस्थिरताका दोष समझता हुआ, उनपरसे वृत्ति हटाकर स्वज्ञानकी खानमें प्रवेश करने लगता है। अरिहन्तोंके उपदेशमें निमित्त उनका राग नहीं है वरन् कम्पनकी अस्थिरता है।

६. राग व वीतरागता दोनों कर्तव्य नहीं हो सकते, कारण दोनों भाव परस्पर विरुद्ध हैं। अतः अन्यके चरित्रनिर्माणके कर्तव्यमें वीतरागी कर्तव्यका सहज ही अभाव है; साथ ही अन्यके परिणामका कोई कर्ता हो ही नहीं सकता चाहे मान्यता बनाकर स्वयं दुःखी होता रहे।

७. एक बार प्रथम सम्यक्त्व तो अधिगमज उपदेशके निमित्तसे ही होता है। दूसरे भवमें उन संस्कारोंके निमित्तसे बिना उपदेश सम्यक्त्व प्राप्त करनेको नैसर्गिक कहते हैं। परंतु स्वयं पराश्रित दृष्टि हटाकर, स्वआश्रित परिणाम करे तो उपदेशको निमित्त कहा जाता है, कर्ता नहीं। जिसकी योग्यता होवे उसको निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका सहज ही योग होता है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अनादिसे चला आता है व चलता रहेगा।

आशा है मुनियोंके उपदेश सम्बन्धी विषयके उपरोक्त स्पष्टीकरणसे मेरा दृष्टिकोण आपके लक्ष्यमें आयेगा। दृष्टिदोष हटे बाद मुनियोंको उपदेशका राग उनकी अस्थिरताका दोष है, कर्तव्य नहीं व इस दोषको स्थिरताका प्रयत्न करते-करते वह हटाते जाते हैं, कर्तव्य समझकर रखना नहीं चाहते।

आपका प्रोग्राम लिखें व पत्र देवें।

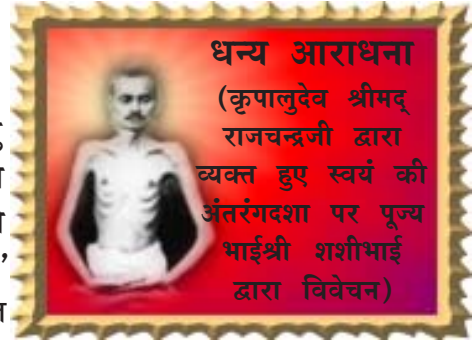
शुभैषी
निहालचन्द्र सोगानी

२३९

बंबई, चैत्र वदी ७, गुरु, १९४७

‘यद्यपि उपाधिसंयुक्त बहुतसा काल जाता है, किन्तु ईश्वरेच्छाके अनुसार प्रवृत्ति करना श्रेयस्कर है और योग्य है; इसलिये जैसे चल रहा है वैसे चाहे उपाधि हो तो ठीक, न हो तो भी ठीक, जो हो वह समान ही है।’

वर्तमानमें व्यवसाय सम्बन्धित अनेक प्रकारके उपाधिसंयुक्त कार्यमें बहुत समय व्यतीत होता है वह आत्महितके कार्यके लिए अनुकूल नहीं होने पर भी सहज ही जिस प्रकारसे होता रहे उसके अनुसार, अर्थात् पूर्वकर्मके उदयको समभावसे वेदन करना उस प्रकारसे, वर्तन करना श्रेयस्कर है। जो कुछ भी नुकसान होता है वह तो स्वयंके अनात्मभावके कारणसे होता है; बाह्य प्रवृत्तिके कारणसे नहीं। परन्तु कृपालुदेवकी ज्ञानदशा और वीतरागतामें-उपाधिका सद्भाव या अभाव समान ही होनेसे-उदयमान पूर्वकर्मकी सम्यक् प्रकारसे निर्जरा होती है, इसलिए उदयकी चिंता नहीं होकरके समाधान रहता है। नमस्कार हो उनकी साधनाको !



२४४

बंबई, वैशाख सुदी ७, शुक्र, १९४७

‘कुछ निवृत्तिका समय मिला करता है; परब्रह्मविचार तो ज्योंका त्यों रहा ही करता है; कभी तो उसके लिये आनंदकिरणें बहुत स्फुरित हो उठती हैं; और कुछ की कुछ (अभेद) बात समझमें आती है; परन्तु किसीसे कही नहीं जा सकती; हमारी यह वेदना अथाह है।’

बाह्यप्रवृत्तिको छोड़कर कुछ समय निवृत्तिके लिए कईबार मिलता है, परन्तु प्रवृत्ति और निवृत्ति, दोनों समयमें आनंदमूर्ति परब्रह्म-परमात्माका लक्ष्य तो सहजरूपसे रहा ही करता है और कभी तो आनंदमूर्ति आत्मामें उपयोग, व्याप्यव्यापकभावसे एकाग्र होने पर निर्विकल्पदशामें आनंदकी किरणें उभर आती हैं, ज्ञान स्वरूप/स्वभावकी गहराईमें चला जाता है और अचिंत्य स्वभावकी कोई न कोई गहरी बात अनुभवज्ञानमें स्पष्ट होती है; इस अगमअगोचर वस्तुका विषय इतना तो सूक्ष्म है कि उसे ग्रहण करनेवाला या समझनेवाला कोई योग्य मुमुक्षु नहीं है, यह एक हमारी वेदनाका विषय है। यद्यपि ये वेदना कम हो इसके लिए एक मात्र - श्री सौभाग्यभाई कृपालुदेवकी नजरमें हैं; परन्तु उनका वियोग रहता है। तथापि श्री सौभाग्यभाई आत्मस्वभावकी गहराई विषयक जिज्ञासावश कुछ पुछे तो अच्छा, ऐसी भावना व्यक्त की है। इसतरह परम सत् गुप्त रहनेके कारण अफसोस होता है, और इसकी अभिव्यक्ति योग्यपात्रकी जिज्ञासाके निमित्तसे ही संभवित है, अन्यथा नहीं। ऐसी कुदरती प्रक्रिया सम्बन्धित संकेत भी इस वचनमृतमें मालूम पड़ता है। यह ऐसा संकेत है कि, अनुभवीपुरुषोंके अनुभवकी गहराई सामने किसी आत्मउन्नतिकी श्रेणीमें आरुढ़ योग्य पात्रके निमित्तसे ही व्यक्त होती है और परम सत् का प्रकाश होता है; तब एक पात्र जीवके निमित्तसे बाहर आया परम सत्य और रहस्य भावी दूसरे अनेक जीवोंको भी आत्मश्रेयका निमित्त बनता है। यहाँपर परम कृपालुदेवके वचनगंभीर्यकी गहराईका दर्शन होता है।



पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

प्रश्न :- वचनमृतमें आता है कि सम्यग्दृष्टिको राग रहता है, किन्तु रागका रस निथर जाता है। कृपया उसका आशय समझायें।

समाधान :- सम्यग्दृष्टिको अस्थिरताका राग बाकी है, किन्तु राग पर प्रीति नहीं है। यह राग आदरणीय नहीं है। वह मेरा स्वरूप नहीं है। मैं तो वीतरागस्वरूप हूँ। ऐसा ज्ञानीको भान होनेसे रागका रस निथर गया है। अर्थात् उस एकत्वबुद्धि-स्वामित्वबुद्धि टूट गई है, रागसे अत्यंत जुदी परिणति रहती है। ज्ञानीको राग मौजूद होनेपर भी रागका राग नहीं, राग रखने योग्य नहीं, राग मेरा स्वरूप नहीं-ऐसी ज्ञायकदशा उसे प्रतिक्षण वर्तती ही है। उसे रागका रस उतर गया है, परन्तु अस्थिरताके कारण उसमें जुड़ता है, किन्तु रूखे भावसे जुड़ता है। भेदज्ञानकी परिणति प्रगट होनेसे वह भिन्न भावसे जुड़ता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-३३१)



प्रश्न :- आत्मामें सुख भरा पड़ा है तो उसका निर्णय करनेकी रीति क्या है?

समाधान :- आत्मामें ही सुख है-ऐसा आचार्यदेवने तथा गुरुदेवने जीवका स्वभाव बतलाकर अनेक युक्तियों एवं तर्कोंसे कहा है। तदुपरांत हम स्वानुभूति करके कहते हैं कि आत्मामें ही सुख है। गुरुदेवने तो उपदेशमें अत्यंत स्पष्टता करके सब सूक्ष्मरीतिसे-अपूर्व ढंगसे समझा दिया है। कोई जा रहा हो तो कोई उसे मार्ग बतलाये, किन्तु चलना तो स्वयंको ही है, निर्णय स्वयंको ही करना है।

किन्हीं भी भावोंमें, किसी भी रागमें, किन्हीं भी कार्योंमें सुखकी कल्पना करनेवाला सुख मानता है; परन्तु वह स्वयं ही सुखस्वभावी है, सहज

आनंदस्वभावी है, उसकी दृष्टि अपनी ओर नहीं है, इसलिये जहाँ सुख नहीं वहाँ सुखकी कल्पना करता है। कल्पना करके सुखका वेदन करता हूँ, ऐसा मान रहा है। जो स्वयं सुखस्वभावी है वह



परमें सुख मान रहा है। जड़ नहीं मानता। सुखस्वभाव स्वयंका है। तथापि जहाँ-तहाँ आरोप करके सुखकी कल्पना स्वयं करता रहता है। स्वयं सुखका भंडार है फिर भी अन्यमें सुखकी कल्पना करता है। विपरीत दृष्टि होनेके कारण बाह्यमें सुख माना है। अंतरमें स्वतःसिद्ध अनादि-अनन्त सुखस्वभाव अपना है। जैसे ज्ञान अपना है वैसे ही सुखस्वभाव सहजरूपसे अपना है। तथापि जहाँ-तहाँ कल्पना करके शांति और सुख माना है। ऐसा आप ही मान रहा है। परन्तु सुख अपनेमें है। गुरुदेव तो कई बार कहते हैं कि मृगकी अपनी नाभिमें स्थित कस्तूरीकी सुगंध आती है, तथापि उसे विश्वास नहीं होनेसे वह चारों ओर ढूँढ़ता है। उसी प्रकार सुखस्वभावी स्वयं जहाँ-तहाँ बाह्यमें सुखकी कल्पना कर रहा है। सुखका भंडार स्वतःसिद्ध आनंद वस्तु स्वयं ही है, फिर भी स्वयं जहाँ-तहाँ सुख मान रहा है!

(स्वानुभूतिदर्शन-३३२)



प्रश्न :- सुख कहीं दूर नहीं है?

समाधान :- अपने सहज स्वभावमें ही सुख है। विकल्पका जाल अर्थात् विभावको छोड़े, वहाँसे विमुख होकर भेदज्ञान करे, और स्वयं निर्विकल्प स्वरूपमें जाय तो सुख-जो कि सहज स्वभाव है, वह सुखका सागर-अपनेमें से प्रगट हो ऐसा है। परन्तु बाहर कल्पना करता है। सुख कहीं दूर नहीं है।

(स्वानुभूतिदर्शन-३३३)



धन्य गुरु ! धन्य शिष्य !

पुरुषार्थमूर्ति पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी के विषय में
अध्यात्मयुगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री के प्रमोदपूर्ण हृदयोद्गार !

‘सोगानी’ का पुस्तक है... ‘द्रव्यदृष्टि प्रकाश’! (उनमें) बहुत शक्ति थी। आत्मज्ञान हुआ था। यहीं... इसी गाँव में...! पहले साधु-बाबा का बहुत परिचय किया था। यम, नियम, ध्यान... (सब किया था)। फिर यहाँ आये (तो हमने) इतना कहा - ‘भैया! ये विकल्प ऊठता है न! राग! चाहे तो दया, दान का हो! ये सब राग से अंदर प्रभु भिन्न है!’ ऐसा कहा और ध्यान में बैठे! अंदर में घोलन करते.. करते... करते... राग से भिन्न चैतन्य का अनुभव यहाँ समिति में हुआ था। बाद में सारी जिंदगी बहुत अच्छे संस्कार लेकर स्वर्ग में चले गये! आहा..हा...! बहुत शक्ति थी! ‘द्रव्यदृष्टि प्रकाश’ है न! उसमें बहुत है! ...वहाँ से (स्वर्ग से) निकलकर बाद में दूसरे भव में केवलज्ञान पाकर मोक्ष हो जायेगा! ...वहाँ स्वर्ग में भी आत्मा में ठरते हैं। परंतु थोड़ा राग है तो मनुष्यभव पाकर, केवलज्ञान पाकर, राग का नाश होकर मुक्ति होगी!!

(श्री ‘समयसार कलश टीका’ कलश-२१६ के प्रवचनमें से, प्रवचन नं. २४१)

जन्म :

सन् : १९१२



बैसाख सुदी-११

१०२ वीं जन्मजयंति के प्रसंग पर पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी के चरणों में भक्तिभावपूर्वक वंदन

पूज्य गुरुदेवश्रीके महापुराणका यह एक पात्र है। सोनगढ़की तीर्थभूमि-इस तीर्थभूमिमें सम्यक्दर्शनरूपी सपूत कोई पैदा नहीं हुआ था, तब तक जो-जो धर्मात्मा हुए वे सोनगढ़ भूमिमें नहीं हुए, अलग-अलग भूमि पर हुए हैं। जबकि गुरुदेवकी यह जो साधनाभूमि है, इस साधनाभूमिको साधनाकी एक नयी यशकलगी लगी और यह भूमि भी फलवंती हुई और एक फल पका-वे सोगानीजी हैं। पूज्य सोगानीजीका बहुमान, यह सिर्फ एक व्यक्तिका बहुमान नहीं है, यह सम्यक्दर्शनका बहुमान है और जो-जो सभी सम्यक्दर्शन धारक महात्माएँ हैं, धर्मात्माएँ हैं, उन अनंत-तीनों कालके धर्मात्माओंका बहुमान है, सन्मान है।

(-पूज्य भाईश्री शशीभाई)

शासन शिरोमणि, निश्चयरत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग प्रकाशक, भावि के
भगवान, जिनेन्द्र लघुनंदन पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की १२४वीं
जन्मजयंती के मंगलकारी प्रसंग पर उनके पावन पादपंकज में
शत शत वंदन हो !



गुरुदेव तो स्वयं एक अलौकिक द्रव्य थें, अलौकिक उनका परिणामन था और
पुण्यका वाणीका योग भी कोई अलौकिक सातिशय योग था। गुरुदेवश्री को
श्रुतकी लब्धि थी। श्रोताओंको तो कानमें जैसे कोई अमृतकी धार करता हो
ऐसा मीठा लगे ! कुछ एक जीवोंको तो ऐसा लगा है कि जैसे कोई दैवी वाणी
निकल रही है !! एक असाधारण युगपुरुष जैसा गुरुदेवका व्यक्तित्व था और
कर्तृत्व भी ऐसा ही था।

-पूज्य भाईश्री शशीभाई